चीनी जनता के मुक्तिसंघर्ष
के सांस्कृतिक सेनानी
लू शुन के एक महत्वपूर्ण भाषण का अंश

क्रान्तिकारी काल का साहित्य

.....

किसी भी महान क्रांति से पहले के साहित्य में सामाजिक स्थितियों के प्रति असंतोष और गुस्सा व्यक्त होता है और वह पीड़ा और रोष को वाणी देता है। विश्व में इस तरह की कितनी ही रचनाएं हैं। लेकिन पीड़ा और रोष की ऐसी अभिव्यक्तियों का क्रांति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि मात्र शिकायतों से क्या होता जाता है ? आपको दबाने वाले उत्पीड़क उस पर ध्यान नहीं देते। चूहा चाहे जितना चिल्लाता रहे और अच्छा साहित्य भी लिख ले, लेकिन तब भी बिल्ली उसे बेरहमी से निगलेगी ही। इसलिए केवल शिकायती साहित्य वाले देश की स्थिति निराशाजनक ही है क्योंकि वह उससे आगे नहीं जाता। जैसे किसी मुकदमे में जब हारी हुई पार्टी अपना रोना रोने लगती है तो विरोधी पार्टी समझ जाती है कि अब वह ज्यादा नहीं टिक सकती और मुकदमा जीता ही समझो। उसी तरह शिकायती साहित्य अपनी तकलीफों का बयान करके उत्पीड़कों में सुरक्षा की भावना को और मजबूत कर देता है। शिकायतों की निरर्थकता को देख कुछ चुप हो जाते हैं और अधिकाधिक पतन की ओर जाते हैं। उदाहरण के लिए मिस्र, अरब, ईरान, और भारत जैसे देशों के पास अपनी कोई आवाज ही नहीं है। लेकिन आंतरिक शक्ति वाले देश शिकायतों के निरर्थक सिद्ध हो जाने पर विद्रोह करते हैं और सच्चाई का सामना करते हुए अपने शोक काव्यों को क्रोध के गर्जन में बदल देते हैं। ऐसा साहित्य विद्रोह का अग्रदूत बनता है। क्योंकि लोग क्रुद्ध होते हैं इसलिए क्रान्ति से पूर्व के इस साहित्य में जनता का रोष, उनका प्रतिरोध का संकल्प और बदला लेने की भावनाएं व्यक्त होती हैं। इसी प्रकार का साहित्य अक्तूबर क्रांति का भी अग्रदूत बना। लेकिन इसके कुछ अपवाद भी हैं। मसलन पोलैंड के साहित्य में प्रतिरोध के साहित्य की लंबी परंपरा रही लेकिन फिर भी उसकी मुक्ति का श्रेय यूरोप के महान युद्ध को ही जाता है।

.....

हुआंगपु सैनिक अकादमी में 8 अप्रैल 1927
को दिये गये भाषण का एक अंश

शिक्षा का नया आदर्श

• प्रेमचन्द

अब तक संसार के सामने शिक्षा का जो आदर्श था, वह परम्परागत समाज-व्यवस्था की ही पूर्ति करता था। समाज पर अब तक व्यक्तिवाद की प्रमुखता रही है और हमारी शिक्षा-प्रणाली भी व्यक्ति का ही समर्थन करती थी। बचपन ही से व्यक्ति का विकास होने लगता है और युनिवर्सिटियों में जाकर पूरा हो जाता है। उस सांचे. में ढलकर युवक आत्मसेवी, घोर स्वार्थी, मित्रता में भी स्वार्थ की रक्षा करने वाला, पक्का उपयोगितावादी और घमंडी होकर रह जाता है। हमारी शिक्षा हमारी सामाजिक चेतना को नहीं जगाती, उसका उद्देश्य अपने फायदे के लिए समाज से काम निकालना है। समाज केवल इसलिए है कि उसे बढ़ने और संचय करने का अवसर दे। वही मनुष्य सफल समझा जाता है, जो समाज को खूब अच्छी तरह एक्सप्लाइट कर सके। व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि व्यक्ति को मजबूर होकर उसी लीक पर चलना पड़ता है, दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

लेकिन समाज-व्यवस्था में बड़े वेग से क्रान्ति हो रही है। कम्युनिज़्म का प्रचार हो या न हो पर समाज का आदर्श बदल गया है। भारत जैसे रूढ़ियों के गुलाम देश दस-बीस साल और परलोक-चिन्तन में पड़े रहें लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है और सच पूछो तो समष्टिवाद की अनीश्वरता, जो हर आदमी के लिए समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्मसिद्ध या परम्परागत विशेष अधिकार नहीं मानती, ईश्वरता के कहीं दिनिकट है। एकात्मवाद का प्रकट रूप इसके सिवा और क्या हो सकता है। मानवी सभ्यता का और धर्म का सबसे ऊंचा आदर्श 'संसार-व्यापी भाई-चारा' रहा है। आदि से हम उसी ओर जाने की चेष्टा कर रहे हैं और वही हमारा लक्ष्य है लेकिन या तो इसलिए कि हमें इतने महान तत्व की यथार्थता पर कभी विश्वास ही नहीं हुआ या इसलिए कि इसे धर्म की आखिरी सीढ़ी मानकर हमने सोच लिया कि इसके आगे और कुछ हो ही नहीं सकता, हम आज भी इस आदर्श से उतने ही दूर हैं, इसके आगे और कुछ हो ही नहीं सकता हम आज भी इस आदर्श से उतने ही दूर हैं, जितने कई हजार साल पहले थे। .....संसार में इस समय जिस शिक्षा-प्रणाली का व्यवहार हो रहा है, वह मनुष्य में ईर्ष्या, भय घृणा, स्वार्थ, अनुदारता और कायरता आदि दुर्गुणों ही को पुष्ट करती है और वह क्रिया शैशव की अवस्था से ही शुरू हो जाती है। सम्पन्न माता-पिता अपने बालक का जरूरत से ज्यादा लाड़-प्यार करके और बड़े होने पर उसकी दूसरे लड़कों से अच्छी दशा में रखने की चेष्टा करके उसे इतना निकम्मा बना देते हैं और उसकी बुद्धि को इतना परिवर्तित कर देते हैं कि वह समाज का खून चूसने के सिवा और किसी काम का रह ही नहीं जाता।

(सितम्बर 1933, विविध प्रसंग, खण्ड-3 से)